लोक - गाथाओं की विशेषताएँ

लोक - गाथाओं की अनेक विशेषताएँ हैं, जो इन्हें अलंकृत काव्य से स्पष्टतः पृथक् करती हैं। इन विशेषताओं पर ध्यान देने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अमुक गीत लोक - गाथा है, अलंकृत काव्य नहीं। लोक - गाथाओं की इन विशेषताओं को हम प्रधानतः दस भागों में विभक्त कर सकते हैं।

1) रचयिता का अज्ञात होना।
2) प्रामाणिक मूलपाठ का अभाव।
3) संगीत और नृत्य का अभिन्न साहचर्य।
4) स्थानीयता का प्रचुर पुट।
5) मौखिक प्रवृत्ति।
6) उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव।
7) अलंकृत शैली की अविद्यमानता तथा स्वाभाविक प्रवाह।
8) रचयिता के व्यक्तित्व का अभाव।
9) लम्बा कथानक।
10) टेक पदों की पुनरावृत्ति।

1.) <u>रचयिता का अज्ञात होना</u> → लोक गाथाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका रचयिता अज्ञात होता है। हीर-राँझा, ढोला-मारू, बिजामत्न, सोरठी, नयकवा बनजारा, गोपीचन्द और राजा भरथरी आदि की अनेक गाथाएँ उत्तरी भारत में प्रसिद्ध हैं, परन्तु इनकी रचना किसने की यह अज्ञात

के गर्भ में छिपा हुआ है। किस काल में किस गाथा की रचना किस व्यक्ति ने की इसका पता लगाना अत्यन्त कठिन है। भोजपुरी में कबिर दास जी के नाम से बहुत से 'निर्गुन' प्रसिद्ध है, जिनके अन्त में 'कहत कबीर सुनो भाई साधो' अथवा 'गावेले कबीरदास यह निरगुनवा' आदि पद बार-बार आते हैं। परन्तु कई कारणों से इन गीतों को कबीर के द्वारा रचा गया नही माना जा सकता। अतः गाथा के निर्माण के संबंध में यह निश्चित रूप से बतलाना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है।

2) <u>प्रामाणिक मूलपाठ का अभाव</u> -> लोक गाथाओं का कोई प्रामाणिक मूलपाठ नही होता। चूँकि गाथा समुदाय की सम्मिलित रचना होती है, अतः उसके मूलपाठ का पता लगाना बड़ा कठिन है। रचयिता गाथा की रचना कर उससे पृथक् हो जाता है। तब यह गाथा समस्त समाज, समुदाय या जाति की रचना हो जाती है और प्रत्येक मनुष्य उसे अपनी निजी सम्पत्ति समझता है। प्रत्येक गवैया अपनी इच्छा के अनुसार नयी पंक्तियाँ जोड़ता जाता है। विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित होने के कारण स्थानीय निवासी उसमें अपनी भाषा की शब्दावली को मिलाते जाते हैं। इस प्रकार आकार में वृद्धि होने के साथ ही साथ उसकी

Scanned by CamScanner

भाषा में भी परिवर्तन होता जाता है। इस कारण लोकगाथाओं का कोई मूल, प्रामाणिक तथा विशुद्ध पाठ नहीं होता।

3) संगीत और नृत्य का अभिन्न साहचर्य → संगीत और नृत्य का अभिन्न साहचर्य है गाथा। सच तो यह है कि संगीत के बिना गाथा को सुनने में आनन्द ही नहीं आता है। भारतवर्ष में भी गाथा और संगीत का अभिन्न सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। वर्षा के दिनों में 'आल्हा' गाने की बड़ी प्रथा। अल्हैत आल्हा गाते समय अपने गले में ढोल बाँध लेता है और उसे पीट-पीटकर अपने भावावेश की सूचना श्रोताओं को देता है। गीत और संगीत का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि देहातों में जहाँ कोई भी वाद्य यन्त्र उपलब्ध नहीं होता, वहाँ स्त्रियाँ काठ के कठौते को उलटा करके लाठी के हूरे से उसकी पीठ को रगड़ती है। इससे एक विचित्र प्रकार की संगीतमयी ध्वनि उत्पन्न होती है। वहाँ तो ताली बजाकर ही संगीत के अभाव की पूर्ति करती है। झूमर के गीत भी ताली बजाकर सामूहिक रूप से गाये जाने पर विशेष आनन्द देते हैं। यह बात भी उनकी संगीतात्मक प्रवृति की ओर संकेत करती है। इस प्रकार लोकगीतों और गाथाओं का संगीत से अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

4) स्थानीयता का प्रचुर पुट → लोक-गाथाओं में स्थानीयता का पुट विशेष रूप से पाया जाता है। इनमें भले ही राजा, महाराजा, रईस और उमरावों का वर्णन हो फिर भी स्थानीय रंग इनमें

गहरा होता है। यही कारण है कि जिस देश या प्रांत में जो गीत प्रचलित हैं उसमें वहाँ के सामान्य लोगों के रहन-सहन, रीति-रिवाज, खानपान और आचार-व्यवहार का सजीव चित्रण रहता है। कहीं-कहीं स्थानीय ऐतिहासिक घटनाओं का भी उल्लेख पाया जाता है। एक भोजपुरी झूमर में "पनिया ना पिये हरदिया का राजा" का बार-बार उल्लेख पाया जाता है। बिहार राज्य में प्रचलित अनेक गीतों में 'बाबू कुंवर सिंह' का वर्णन हुआ है। मारवाड़ में यातायात का साधन ऊँट है। 'ढोला मारू रा दूहा' में मारवणी ऊँट की सवारी करती हुई दिखायी पड़ती है। उत्तर प्रदेश के पर्वतीय जिला में सर्दी अधिक पड़ती है। अतः वहाँ के लिए थोड़ी भी गर्मी असहय होती है। इसी प्रकार मैथली लोक गीतों में वहाँ की स्थानीय प्रथाओं की झाँकी मिलती है।

5) मौखिक प्रवृत्ति - लोक गाथाएँ चिरकाल से मौखिक परम्परा के रूप में चली आ रही है। प्राचीन काल में वेदो की परम्परा भी मौखिक थी। गुरु अपने शिष्य को वेद की शिक्षा मौखिक रूप से ही देता था और शिष्य अपने शिष्य को इसी विधि से वेद पढ़ाता था। लोक-गाथाएँ इसी रूप में आज भी सुरक्षित है, लोक-गाथा तभी तक सुरक्षित रहती है जब तक उसकी परम्परा मौखिक होती है, लिपिबद्ध करते ही उसकी गति और प्रगति रुक जाती है। जब किसी गाथा को लिपि के सिकन्जों में बाँध दिया जाता है तब उसकी वृद्धि रुक जाती है। उसका पाठ निश्चित

हो जाने के कारण उसमें अन्य गायकों द्वारा परिवर्तन तथा सम्वर्द्धन की गुंजाइश ही नहीं रहती है। परन्तु मौखिक रूप में रहने पर जिस प्रदेश में इनका प्रचार होता है वहाँ के गायक उसमें दो चार अपनी कड़ियाँ जोड़ देते हैं। इस प्रकार इनके विभिन्न पाठ हो जाते हैं। आल्हा के भिन्न-भिन्न पाठों का यही रहस्य है।

6) उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव ⇒ लोक गाथाओं में उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव पाया जाता है। जिस प्रकार संस्कृत में 'नीतिशतक' और हिन्दी में 'नीति के दोहे' मिलते हैं उसी प्रकार 'नीति के वचन' गाथाओं में उपलब्ध नहीं होते। इन गाथाओं की प्रवृत्ति चरित्रांकन को गति प्रदान करने की है न कि उपदेश दान की। कुसुमा देवी और भगवती देवी के गीतों से इनके अलौकिक सतीत्व तथा आदर्श भावना की शिक्षा मिलती है परन्तु उनमें उपदेश देने की प्रवृत्ति नहीं पायी जाती।

7) अलंकृत शैली की अविद्यमानता तथा स्वाभाविक प्रभाव ⇒ लोक-गाथा वस्तुतः अलंकृत काव्य से सर्वथा भिन्न है। अलंकृत कविता किसी कवि द्वारा लिखी जाती है जो अपनी रचना को सुन्दरतम बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के अलंकार, छन्द, रस, रीति और गुणों की अवतारणा करता है। ऐसे काव्य को अलंकृत काव्य कहा जाता है। इसकी रचना कवि के प्रयास द्वारा होती है। लोक-गाथाएँ जो जनता की कविता कही जाती हैं इससे बिल्कुल पृथक हैं। इनमें अलंकार विधान, गुण योजना आदि का प्रायः अभाव होता है। यदि कहीं अलंकारों को

Scanned by CamScanner

स्थिति दौरव भी पड़ती है तो वह अनायास उपस्थित होती है, प्रयासपूर्वक नहीं।

पिंगल शास्त्र के नियमानुसार इनको नाप - तौलकर रखने की भी आवश्यकता नहीं। यही कारण है कि लोक - गाथाओं में छन्द शास्त्र के नियमों का बड़ी शिथिलता के साथ पालन किया गया है। कहीं - कहीं तो इसका नितान्त अभाव है।

3) रचयिता के व्यक्तित्व का अभाव →

अलंकृत कविता में लेखक का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित रहता है। ऐसा कहा जाता है कि शैली ही व्यक्ति है। अतः कलात्मक रचना पर उनके रचयिता के व्यक्तित्व की छाप होना सुतरां आवश्यक है। एक कवि का व्यक्तित्व उसे दूसरे की कृतियों से पृथक करता है। परन्तु लोक - गाथाओं में लेखक के व्यक्तित्व का अभाव होता है। इन गाथाओं का कोई एक रचयिता नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में उनके व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ना सम्भव नहीं। गाथाओं के कवियों का कोई महत्व नहीं होता, न तो वे वर्तमान में उपस्थित रहते हैं और भूतकाल में उनकी सत्ता थी या नहीं, इस विषय में भी हम सन्देह की दोला पर दोलायमान होते हैं। जहाँ तक श्रोताओं का प्रभाव उत्पन्न करने का प्रश्न है, गाथाओं का रचयिता केवल अदृश्य ही नहीं बल्कि उसका अस्तित्व ही नहीं होता।

हिन्दी, मराठी, गुजराती, पंजाबी [illegible] में जितनी गाथायें प्रचलित है उनके अध्ययन से यह

स्पष्ट पता चलता है कि इनमें उनके रचयिताओं का हाथ नहीं है। गाथा में कथा की प्रधानता होती है। इस कथा-प्रवाह में लेखक का व्यक्तित्व बह जाता है।

9) लम्बा कथानक → लोक-गाथाओं की अन्य विशेषता है, उनकी कथा-वस्तु की दीर्घता। गाथाओं का आख्यान बड़ा लम्बा होता है। कोई-कोई तो काव्योत्कर्ष में न सही - परन्तु लम्बाई में तो महाकाव्यों की स्पर्धा करते हैं। भोजपुरी आल्हा बड़े साइज के ६२० पृष्ठों में छपकर प्रकाशित हुआ है। ढोला मारु की कथा भी 'ढोला-मारु रा दूहा' नामक पुस्तक की आकृति इसका प्रमाण है। विजयमल, लोरकी, सोरठी, गोपीचन्द तथा भरथरी के गीत भी छोटे नहीं हैं। डॉ० ग्रियर्सन ने लगभग ८० पंक्तियों में विजयमल की अपूर्ण कथा को प्रकाशित किया है। 'कुँवर विजयी' सैकड़ों पृष्ठों में छपकर भोजपुरी में प्रकाशित हुई है।

10) टेक पदों की पुनरावृत्ति → लोक-गाथाओं की सर्वप्रधान विशेषता टेक पदों की पुनरावृत्ति है। लोक गाथाओं के गाने की राग समस्वर होता है तथा द्रुतगति में गाया जाता है। टेकपदों से गाथा का महत्व इसलिए बढ़ जाता है कि प्रथम, समस्वर के कारण एकरसता निर्माण होने की जो सम्भावना रहती है, वह नहीं होने पाती। द्वितीय उपयोगिता यह है कि टेकपदों के कारण गायक को साँस लेने का अवकाश मिल जाता है। पाश्चात्य लोक-गाथाओं में दो प्रकार के टेक पद होते हैं। एक को 'रिफ्रेन' तथा दूसरे को 'इन्क्रीमेन्टल रिपीटीशन' कहा जाता है। 'रिफ्रेन' का इतिहास नहीं प्राप्त होता है पर ऐसी संभावना

है कि लोकगाथाओं के साथ ही साथ इसका भी उद्भव हुआ है। लोकगाथाओं के गायन के लिए जब समूह एकत्र होता है तो बीच-बीच में कुछ विशेष प्रकार के शब्द उच्चरित होते हैं। इससे वातावरण ओजस्वी हो जाता है तथा पूरे समूह को ऊर्जा मिलती है। रिफ्रेन दो प्रकार का होता है। एक तो निरर्थक या सार्थक शब्दों का उच्चारण होता है तथा दूसरे में प्रारम्भ में कही गई पंक्तियों को बार-बार दुहराया जाता है। भोजपुरी लोकगाथाओं में प्रथम प्रकार का रिफ्रेन मिलता है। प्रत्येक पंक्ति के अन्त में तथा प्रारम्भ में 'रेनुकी' हो, रामा तथा सकिया हो रामा का उच्चारण होता है।

इन्क्रीमेन्टल रिपीटीशन रिफ्रेन से एक पग आगे की वस्तु है। इसमें प्रथम पंक्ति दूसरे पंक्ति के पश्चात् पुनः आती है। परन्तु उसकी पुनरावृत्ति में किसी एक नवीन शब्द द्वारा कथा का विकास सूचित हो जाता है। भोजपुरी लोकगाथाओं में यह क्रिया वही पाई जाती है, वहाँ प्रत्येक पंक्ति कथा को निरन्तर आगे बढ़ाती रहती है। गायक को पीछे मुड़ने का अवकाश ही नहीं रहता। वह केवल रिफ्रेन का ही प्रयोग करता है जिससे श्रोता को उसे सहचर्य मिलता है और वह एकरसता से मुक्त पा जाता है।

Scanned by CamScanner